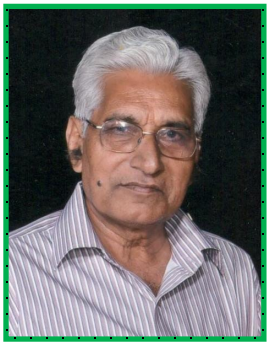
ISSN:2583-8849



भगवती प्रसाद गौतम
कोटा, राजस्थान

भारतीय संस्कृति का सिद्ध चितेरा राजा रवि वर्मा

बीते दिनों एक पुस्तक से गुजरना हुआ- 'जो खुद कसौटी बन गए', लेखक- प्रकाश मनु/ प्रकाशक- राष्ट्रीय पुस्तक न्यास। पहला ही अध्याय था 'स्वामी विवेकानंद: योद्धा संन्यासी जो दुनिया जीतने आया था'। अध्याय का सार-संदेश यह कि "जब मूर्ति-पूजक कहे जाने वाले लोगों में मैं ऐसे मनुष्यों को पाता हूँ जिनकी नैतिकता, आध्यात्मिकता और प्रेम अपना सानी नहीं रखते, तब मैं रुक जाता हूँ और अपने से यही पूछता हूँ — क्या पाप से भी पवित्रता की सृष्टि हो सकती है?...भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा कोई जघन्य बात नहीं है। वह व्यभिचार की जननी नहीं है वरन वह अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को एकाग्रता से ग्रहण करने का उपाय है।"

शिकागो की विश्व धर्मसभा (1893) में उस अप्रतिम संन्यासी ने जब यह सिद्ध कर दिखाया कि 'शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी संप्रदाय विशेष की एकांतिक संपत्ति नहीं है' तो अगले ही दिन अमेरिकी अखबारों ने लिखा- "उन्हें सुनने के बाद हम अनुभव करते हैं कि भारत जैसे ज्ञानी राष्ट्र को मिशनरी भेजना कितनी बड़ी मूर्खता है।"

उल्लेखनीय यह भी है कि भारत-भूमि के इस महान सांस्कृतिक अग्रदूत विवेकानंद की दूरदृष्टि का ही प्रतिफल था कि शिकागो धर्म सम्मेलन के अवसर पर ही अपने समय के एक ऐसे सशक्त कलाकार के अद्भुत संदेशपरक चित्रों की प्रदर्शनी भी सम्पन्न हुई जो बरबस ही विश्व-कला के पटल पर स्थापित हो गया। तूलिका का वह महारथी था भारतीय संस्कृति का सिद्ध चितेरा राजा रवि वर्मा।

चाणक्य नीति के अनुसार उपयुक्त कर्म को ही धर्म माना गया है, साथ ही यह भी कि मानवता से बढ़कर कोई धर्म संसार में नहीं है। मेरे श्रद्धेय कलागुरु एवं प्रखर चिंतक रत्नाकर विनायक साखलकर (जिनकी प्रेरणास्पद जीवनी राजस्थान ग्रंथ अकादमी से प्रकाशित हुई) के मुताबिक- "कला का मूल अर्थ है कर्म तथा कला एवं धर्म जीवन के अंतर्निहित आधारभूत सर्जनशील तत्व हैं। धर्म धारक तत्व है तो कला कारक तत्व है। पूर्व पाषाण काल से लेकर आधुनिक काल के आरंभ तक जो भी महान कला निर्मिति हुई, उसका प्रेरणास्रोत धर्म ही रहा। धर्म अनुशासन है तो कला प्रत्यक्ष कर्म।" (र°वि°साखलकर/ लेखिका डॉ° स्निग्धा दत्ता)

ध्यातव्य है कि महान वैज्ञानिकों ने भी धर्म एवं नैतिक जीवन मूल्यों की उपेक्षा नहीं की। अल्बर्ट आइंस्टीन ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था- "धर्म के बिना विज्ञान पंगु है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा।"

संयोग ही रहा कि उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर में राजस्थान के जयपुर, किशनगढ़, नाथद्वारा, बूंदी, आदि नगरों में जब कलाकार अपने ही ढंग से धार्मिक, पौराणिक एवं सामाजिक विषयों को चित्रित कर रहे थे, उसी कालखंड में कुछ चित्रकार जीवन-यापन के लिए सुदूर दक्षिण के हिंदू-शासित राज्यों में जा बसे। समय के साथ उन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ किन्तु उसी अवधि में कुछ ऐसे ब्रिटिश कलाकार भी भारत की धरती पर आ जमे जिन्हें कला के क्षेत्र में व्यावसायिक दक्षता प्राप्त थी। वे तैल रंगों (ऑयल कलर) के माध्यम से राजा-रईसों के धड़ (बस्ट) और आदमकद व्यक्ति चित्र (लाइफ साइज़ पोर्ट्रेट) बनाने लगे। फलस्वरूप लोगों का रुझान विक्टोरियन काल की यथार्थवादी (रियलिस्टिक) चित्रण शैली के प्रति बढ़ा और शनै:-शनै: लगभग पूरे कला-परिवेश पर इसका प्रभाव दिखाई देने लगा।

उम्मीद थी, उस उम्मीद पर पानी फर गया विशाल तो

दुसरी दुनिया में चला जो अब वापिस आने वाला नही हैं! काश शंकर व संगीता के एक और लड़का होता तो अच्छा रहता!

ऐसे में राजा रवि वर्मा के भीतर भी एक खास तरह का द्वंद्व था, एक वैचारिक हलचल थी। आखिर उन्ही के द्वारा एक ऐसी समकालीन कला-शैली का सूत्रपात हुआ जिसमें भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य यथार्थवादी चित्रण तकनीक का अद्भुत समन्वय व्याप्त रहा। यही वे राजा रवि वर्मा थे जो बीसवीं सदी के आरंभिक दौर में 107 दिन की अवधि के लिए उदयपुर (मेवाड़) स्टैट के 'रॉयल गेस्ट' बने और उन्होंने ही पहली बार अपने यशस्वी हाथों से पराक्रम-पुरुष महाराणा प्रताप के भव्य व्यक्तित्व को चित्रात्मक स्वरूप प्रदान किया।

त्रिवेंद्रम (केरल) के किलिमानूर में 29 अप्रेल 1848 को जन्मे राजा रवि वर्मा के पिता एजुमविल नीलकंठन भट्टातिरिपद अपने समय के जाने-माने विद्वान थे और त्रावणकोर नरेश अयील्लम तिरुनाल के निकट संबंधी भी, जबकि उनकी माता उमायाम्बा थंबुरति विदुषी रचनाकार थी। उनके तीन भाई—बहन थे— गोदा वर्मा, राजा वर्मा और मंगला बाई। राज परिवार में कलाओं के प्रति अभिरुचि थी। 'रवि' के चाचा राजा राज वर्मा स्वयं भी अच्छे कलाकार थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम 13-14 वर्षीय भतीजे की प्रतिभा को पहचाना और महाराजा तिरुनाल से परामर्श कर राजचित्रकार रामास्वामी नायडू के मार्गदर्शन में रवि को जल-चित्रण सीखने के लिए प्रोत्साहित किया।

इसी बीच एक डच चित्रकार थियोडोर जेंसन का राज्य में आगमन हुआ। वह मंजा हुआ 'पोर्ट्रेट पैंटर' था। उससे भी चाचा ने रवि वर्मा को तैल रंग तकनीक सिखाने हेतु आग्रह किया लेकिन उसकी संभावित प्रतिभा को ताड़कर उसने इस विषय में कोई रुचि नहीं दिखाई। उधर रामास्वामी ने भी मन-ही-मन रवि को भावी प्रतिद्वंदी मानकर अपने हाथ खींच लिए। मगर वह भी ठान चुका था। कभी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से बड़े कलाकारों को चित्र-सृजन करते हुए देखता, कभी 'विष्णुधर्मोधर पुराण' के चित्रसूत्र अथवा मूर्तिशास्त्र जैसी पुस्तकों का अध्ययन करता और निरंतर अभ्यास में जुटा रहता। आखिर उसने अपना एक खास मुकाम बना ही लिया।

अब तो स्थिति यह थी कि मद्रास (तत्कालीन) के अंग्रेज़ गवर्नर ने उन्हें स्वर्णपदक से विभूषित किया। पूना, मद्रास, बंबई, विएना, बकिंघम, शिकागो जैसे बड़े-बड़े नगरों में उनके चित्र प्रदर्शित हुए। फलस्वरूप प्रशंसा, पदक, पुरस्कार और सम्मान उन पर बरसने लगे। यद्यपि जाने-माने दर्शनशास्त्री एवं कला मर्मज्ञ आनंद कुमारास्वामी ने उनके चित्रों पर नाटकीयता का दोष मढ़ते हुए आलोचना भी की, फिर भी उनकी प्रतिष्ठा को कोई आंच नहीं आया। वे खुद स्वीकार करते थे कि उन्होंने चित्रों में वास्तविकता का प्रभाव लाने के लिए भारत-भ्रमण किया, तीर्थों-धामों की यात्राएं कीं, प्राचीन एवं पारंपरिक पोशाकों का अध्ययन किया और तत्कालीन नाटक मंडलियों व थिएटरों से भी बहुत-कुछ ग्रहण किया।

अंततः राजा रवि वर्मा की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि उनकी मौलिक कृतियाँ व प्रतिकृतियाँ (कैलेंडर रूप में) कुलीन घर-घरानों और संग्रहालयों की शोभा बढ़ाने लगीं। ऐसी महत्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय कलाकृतियों में 'हंस-दमयंती संभाषण', 'वीणावादिनी', 'दुष्यंत की खोज में शकुंतला', 'गंगा और भीष्म', 'लक्ष्मी', 'हरिश्चंद्र-तारामती', 'विचारमग्न युवती', 'संगीत सभा', 'अर्जुन एवं सुभद्रा', 'फल वाली स्त्री', 'विरहाकुल नायिका', 'रावण द्वारा जटायु का वध', 'इंद्रजीत विजय', 'राम की वरुण-विजय' जैसे अनेक चित्रों का उल्लेख सम्पूर्ण गौरव के साथ किया जा सकता है।

राजा रवि वर्मा की गणना विश्व के एक महान पोर्ट्रेट पेंटर के रूप में भी होती रही है। उन्होंने भारत के कई राजा-महाराजाओं और उनके परिजनों के मुंह बोलते व्यक्तिचित्र रचे। छोटे भाई राजा वर्मा के साथ उन्होंने विभिन्न राज्यों की यात्राएं कीं और मैसूर, बड़ोदा, ग्वालियर जैसी समृद्ध रियासतों में अपनी सृजन दक्षता का अभूतपूर्व परिचय दिया। यहाँ इतिहास का वह रोमांचक अध्याय बरबस ही याद हो आता है जब वर्ष 1901 में इस महान कलाकार के पाँव राजस्थान की धरती पर पड़े और उदयपुर के पूर्व दीवान राय पन्नालाल मेहता के सुपुत्र फतेहलाल मेहता के आमंत्रण पर वे मेवाड़ रियासत के विशिष्ट अतिथि बने।

राजा रवि वर्मा अपने छोटे भाई और भतीजे के साथ

16 मार्च को उदयपुर पहुंचे। राजपरंपरा के अनुसार तीनों का आत्मिक स्वागत हुआ और ऐतिहासिक झील पीछोला के तट पर स्थित 'आमेट की हवेली' में उनकी आवास-व्यवस्था की गई। उधर ही 'बाड़ी महल' में स्टुडियो बना और वहीं प्रतापी प्रताप के उस कालजयी चित्र की सर्जना हुई जिसके आधार पर कालांतर में अनगिनत चित्रों एवं मूर्तियों का सृजन हुआ।

यों ऐसे ऐतिहासिक नायक की छवि को कैनवास (फ़लक) पर उतारना जिसका साक्ष्य या प्रामाणिक आधार न हो, और वह भी आदमक़द स्वरूप में आरेखित करना, कम चुनौतीपूर्ण कार्य नहीं था। फिर भी राजा रवि वर्मा की व्यापक योजना, काल्पनिक रूप-स्वरूप का निर्धारण, लोक कथाओं-गीतों में उनके व्यक्तित्व की खोज, प्रासंगिक स्थलों का अवलोकन, भौगोलिक परिवेश की समझ, आवश्यक सामग्री का संकलन, उपयुक्त मॉडल का चयन, तदनुरूप रेखांकन, अनुभवी लोगों के सुझावों पर विचार-विमर्श, वांछित संशोधन और अंतिम स्पर्श से पूर्व तत्कालीन महाराणा फतेहसिंह जी की सहमति....ये सब ऐसे चरण थे जिनमें काफी धैर्य व सजगता का निर्वाह जरूरी था। महाराणा की हार्दिक इच्छा थी कि वीर शिरोमणी प्रताप की छवि उनके मूल शिरस्त्राण, जिरह-बख्तर और हथियारों के साथ ही चित्रित हो। इसलिए 22 अप्रेल को राजा रवि वर्मा स्वयं एक अनुभवी दरबारी के साथ मेवाड़ स्टैट के शस्त्रागार पहुंचे और पुरानी तलवार समेत उन विशेष वस्तुओं को निकट से देखा जिनका प्रताप ने कभी उपयोग किया था।

अब आया वह दिन (2 मई) जब एक राजपूत युवक सामने खड़ा था। चित्रकार ने उसकी शारीरिक संरचना को बड़ी बारीकी से समझा और आखिर रेखांकन की शुरुआत हुई। छोटे भाई राजा वर्मा ने अपनी डायरी में एक स्थान पर लिखा भी है- "फतेहलाल जी सुबह आए थे। साथ में शिरस्त्राण, जिरह-बख्तर और एक लंबे-चौड़े राजपूत मॉडल को लाए। हमने उनका रेखांकन किया और वे पूरी तरह पुराने जमाने के वीर की तरह नजर आने लगे।"

अगले ही दिन वही युवक पुनः हवेली पहुंचा और वर्मा बंधुओं ने उसके रेखाचित्र के साथ प्रताप के चेहरे को उकेरकर वह सम्पूर्ण स्वरूप प्रदान किया जिसकी अपेक्षा राज-दरबार द्वारा की गई थी। अब फ़लक पर विद्यमान थी एक चश्म मुद्रा में भव्य आदमक़द आकृति, उन्नत भाल, उसपर शिरस्त्राण व पगड़ी, भरी-भरी नुकीली मूंछ, विशाल वक्षस्थल, एक हाथ में लंबा-भारी भाला, कमर पर सज्जित म्यान-तलवारें और भी बहुत कुछ। यह वह आन-बान-शान वाली छवि थी जो आज भी देशवासियों के मानस में बसी हुई है। इसी कड़ी में 23 मई को रवि वर्मा ने समीप की पहाड़ियों पर पहुँचकर आस-पास का दृश्यावलोकन किया और रूपाकृति की पृष्ठभूमि का अंकन कर कलाकृति को अंतिम स्पर्श दे दिया।

राजा वर्मा की डायरी से ज्ञात होता है कि इसी दौर में महाराणा फतेहसिंह की तस्वीर भी निर्मित हुई जिसके लिए रवि वर्मा को समय-समय पर राजभवन जाना पड़ा और महाराणा साहब को भी पूरी वेश-भूषा में उनके सामने बैठना पड़ा। डायरी के पन्नों से पता चलता है कि दोनों भाई चित्र-सृजन में किस तरह ताल-मेल बिठाते थे और यदा-कदा उन्हें किस प्रकार की असुविधाओं से गुजरना पड़ता था। मगर उन्होंने जो रचा वह आज भी बरबस ही कला प्रेमियों को मोह लेता है। सच ही है कि यह सृजन अद्भुत एवं अद्वितीय रहा।

कहते हैं, 29 जून 1901 को राजा रवि वर्मा और उनके दोनों सहयोगी कलाकारों को महाराणा फतेहसिंह के हाथों मोतियों के हार, विशिष्ट पहनावे और पारिश्रमिक स्वरूप 5500 रुपए भेंट किए गए। अगले ही दिन राजा रवि वर्मा ने भी स्मृति-उपहार स्वरूप महाराणा जी को उनका सुंदर चित्र तथा राजा वर्मा द्वारा रचित 'लेंडस्केप' (दृश्य चित्र) भेंट किया और मेवाड़ राज्य का 107 दिन (16 मार्च से 30 जून) का आतिथ्य स्वीकार कर तीनों एक जुलाई को झीलों की नगरी उदयपुर से प्रस्थान कर गए।

राजा रवि वर्मा की चित्रण शैली भले ही पाश्चात्य कला से प्रभावित रही लेकिन उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठा को कभी कोई आंच नहीं आने दिया। वे निरंतर कलाकृतियाँ रचते रहे और भारतीय संस्कृति के वैभव को विस्तार देते रहे। ऐसे ही सृजन के चलते वे 2 अक्तूबर 1906 को महाप्रयाण कर गए।